

कविताएँ जीवन की सच्ची आलोचना होती हैं

(‘लिखती हूँ मन’ रोहिणी अग्रवाल के कविता संकलन पर आलोचनात्मक टिप्पणी)

असहमतियों ,असंतोष और अतृप्ति से जन्मी आंदोलन धर्मी कवितायें

सुधा उपाध्याय

कविताएँ जीवन की सच्ची आलोचना होती हैं, ऐसा मैं इसलिए कह रही हूँ क्योंकि अपने समय और समाज, अपने परिवेश की खबर रखना और आने वाले समय और समाज को खबरदार करना ही सच्चे मायने में कविताई है। लिखने और रचने का फ़र्क भी यही है, जो सहने और भोगने का फ़र्क है। समय में साथ-साथ होना और समय को साथ-साथ जीना ये अलग-अलग बातें हैं। केवल शब्दों को ढोए जाना या शब्द चमत्कार पैदा करना कविताई नहीं है। कम शब्दों में वह अनुगूँज पैदा की जा सकती है जो अर्थ की नई तहें खोल सके और कविता प्याज की परतों सी परत दर परत खुलने लगती है। बाजदफा ऐसा भी होता है कि मन के भीतर की बेचैनी भीतर उमड़ घुमड़ रही होती है पर जब तक पूरी तरह पकती नहीं, सीझती नहीं वह स्वाद, रंग, निखार और खुशबू रचना में पैदा नहीं होती। कविता को चीन्हना अंधेरे कुएँ में झाँकने जैसा है। जिसमें आप अनुमान भर लगा सकते हैं उस अनुभव और संवेदना को जीना या कविता की थाह का पता लगाना, कठिन होता है। बड़े-बड़े आलोचक यह तक कहते पाए गए हैं कि कविता की दुनिया ही अलग दुनिया होती है। मैं इससे इत्तेफाक नहीं रखती। रोहिणी अग्रवाल मूलतः आलोचक हैं, कथा आलोचना में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इस कविता संकलन में भी एक आलोचक की पैनी नज़र में पाई मैं हमेशा से साखी रही हूँ इस बात की कि एक अच्छे कवि में एक अच्छा आलोचक रहता ही है। जो ब्लैक होल प्रजाति की संतानों को लगातार देख रहा होता। कविता जीवन की बीज विधा है। ऐसा क्यों होता है कि जब भी स्त्री रचनाकार कविता, कहानी या आलोचना करती है तो आलोचक समाज उसकी वैचारिकता की शिनाख्त करने लगता है। मेरा अपना मानना है कि साहित्य की हर विधा में किसी भी रचना को देखने परखने के लिए हम सबके पास अपनी-अपनी दृष्टि होती है। कवि और कहानीकार की दृष्टि अलग होती है इसलिए आलोचक को भी अपने तमाम पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर ही किसी रचनाकार की परख करनी चाहिए। कब तक हम बने बनाए पैटर्न पर कुछ गिने चुने टूल्स की तलाश करते रहेंगे। आखिर कविताएँ कारखाने में तो पैदा होती नहीं कि एक ही ढर्रे पर, एक ही खाँचे और साँचें में रची पकी और परोसी जाएँ। मुझे रोहिणी अग्रवाल को पढ़ते हुए ऐसा महसूस हुआ कि वो मुक्तिबोध को पसंद करती हैं। कुछ नया कहने और रचने का जो जुनून इनमें है वह मुक्तिबोध का वही बना बनाया हृदय और मस्तिष्क का अनुपात भंग करके ज्ञानात्म संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान को एक बार पुनः समझने की जरूरत है। यह आग्रह प्रायः हर आलोचक अपने-अपने अंदाज से पाल लेता है। रचना के लोकतांत्रिक स्वरूप को उसकी निजता के साथ उसकी नवीनता में ईमानदारी बरतनी होगी। निर्मल वर्मा के शब्दों में कहूँ तो, हर रचना का सत्य उसकी स्वयं सिद्ध सत्ता में वास करता है, कहीं बाहर से अपनी वैधता या प्रामाणिकता प्राप्त नहीं करता.....

अहा! मैं स्त्री नहीं, मुक्ति हूँ साक्षात्! अनुभव और बोध की मिट्टी में विवेक और संवेदना की नमी से रची स्वयं सम्यक् सम्बुद्ध!!

रोहिणी अग्रवाल ने पिछले तीन दशकों से हिंदी रचनाशीलता को एक सार्थक और हस्तक्षेपकारी गति दी है। उनका लेखकीय विस्तार आलोचनासे स्त्री विमर्श तक; कहानी से कविता तक और संपादन से लेकर निबंधतक फैला है एक दर्जन से अधिक पुस्तकों की इस सृजनकार ने हिंदी आलोचना के पाठ को एक संवेदनात्मक सौंदर्य सौंपा है। समकालीन बहसों में उनकी उपस्थिति मानीखेज है।

फिर मिलकर हम दोनों टाँक देती हैं तलघर कोपतंग की तरह आसमान के झक नीले आंचल में। आसमान की बुलंदियां डराती नहीं मुझे पुचकार कर दुलार सेहौसलों को ऊँची परवाज़ देती हैं। आलोचनात्मक विवेक को निष्पक्ष रखने के लिए समूची मानवीय संवेदना को चीन्हने की जरूरत है। हम लगातार उत्तेजना और उन्माद के शिकार हो रहे हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम रचना कर्म में जल्दीबाजी बरतते हों और किसी रचनाकार के आंकलन में दुराग्रह पाल लेते हों। हम जब किसी संकलन का आंकलन करेंगे तो सब कुछ को समेटने का लोभ हमें कहीं का नहीं रखेगा। कुछ न कुछ छूट जाने का डर हर साक्षात् को अधूरा कर देता है। पर आलोचक की कोशिश रहनी चाहिए कि किसी रचनाकार के विविध पहलुओं को चाहे उसका कथाकार मन हो, चाहे उसकी आलोचक विवेक हो, चाहे उसकी कविता का मिजाज हो, उसके समूचे व्यक्तित्व को यानी उस साहित्यकार के इनर सेल्फ को उसकी संपूर्णता में चीन्हे। आलोचना अगर हम किसी रचनाकार कर रहे होते हैं तो आत्मालोचना कवि अपनी कर रहा होता है और यह और अधिक कठिन कठोर और पारदर्शी काम है।

रोहिणी अग्रवाल के समूचे गद्य लेखन में जिस सघनता के साथ कविता की लय अन्तर्गुफित रहती है, उससे अनुमान लगाना कठिन नहीं कि अपने व्यक्तित्व की बुनियाद में मूलतः वे कवयित्री हैंआप संग्रह की कविताएँ पढ़ते जायें, पायेंगे कि मर्म को छू लेने वाली संवेदना के बीच विचार गड़िन बौद्धिक तेवर ऐसे बिंधे हैं जैसे रस से सरावोर पते के दोने में अपनी ही तड़प से जलती आग जीवन के तमाम रंग इन कविताओं में दबे पाँव चले आये हैं-

कहीं हूक बन कर कहीं कूक बन
कर कहीं सवाल उकेरते हुए,
कहीं वक्त की अनसुनी पुकारों को टेरते हुए;
कहीं प्रेम का राग वन कर, कहीं
पाखण्ड और वर्चस्व के विरुद्ध तन कर ।

स्त्री का तलघर जीवन्त हो उठा है इन कविताओं में ऐसा तलघर जो सीलन, बदबू और बिलबिलाते कीड़ों को शर्म की तरह दाब-ढाँक कर नासूर नहीं बनाता, बल्कि अपने अन्तर्विरोधों, धड़कनों और दुर्बलताओं की आँख में आँख डाल निरन्तर माँजता चलता है स्वयं को कि बुलन्द हौसलों के साथ आकाश के अंचल में उसे पतंग की तरह टाँक दे.हम जब भी किसी पुस्तक का आंकलन करते हैं तो उस रचनाकार के सहयात्री होने के लिए उसकी मनोभूमि पर उतरने के लिए, उसकी वैचारिकता को चीन्हने के लिए, उसकी अन्य रचनाओं को भी तटस्थ होकर देखें और निजी तौर पर जिसे मुक्तिबोध ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान कहते हैं मैं एक कवि और आलोचक होने के नाते उसी को तटस्थ संलग्नता और संलग्न तटस्थता कहती हूँ. मेरा मानना है रचना किसी विधा में की जाए, पर वह जब तक समसामयिक चुनौतियों से टकराएगी नहीं, तत्कालीन जड़ताओं को तोड़ेगी नहीं, आलोचना की बेबाकी और ईमानदारी को बचा न पाएगी. सच्चा लेखक अपने खुद का दुश्मन होता है. वह

अपनी आत्मशांति को भंग करके ही लेखक बना रह सकता है. इसीलिए लेखक अपनी कसौटी पर दूसरों की प्रशंसा को भी कसता है और आलोचना को भी. वह अपने खुद का सबसे बड़ा आलोचक होता है.

(मुक्तिबोध रचनावली, खंड-4, पृष्ठ संख्या- 53)

ब्याह के बाद?

सखी हौले से थाम लेती है झिझक कर सिंदूरी हुई पोटली

भरा है उसमें फुसफुसाहटों का कलरव

लुकाछिपी का मदहोश स्वांग

तवे पर रोटी पलटते-पलटते

सिहर गई गरदन की नस

उत्पत्त होंठों की प्रतीक्षा में

जैसे फड़क उठता है तन का अंग-प्रत्यंग

रोहिणी अग्रवाल मूलतः आलोचक हैं, कथा-आलोचना में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं. इस कविता संकलन में भी एक आलोचक की पैनी नज़र मँने पाई में हमेशा से साखी रही हूँ इस बात की कि एक अच्छे कवि में एक अच्छा आलोचक रहता ही है जो ब्लैक होल प्रजाति की संतानों को लगातार देख रहा होता है मुक्तिबोध की कविता कौंधती हैं, 'मुझे यहां हर तरफ चौराहे नज़र आते हैं.

सदियों के अनथक सफर के बावजूद कहीं

मैं दूजे द्वार पर ही अवरुद्ध तो नहीं कर दी गई हूँ? कोठरियों के सात द्वारपाताल में खुलते हैं या तोड़ी गई पहली व्यूह रचना हीतिलिस्म बनकर करने लगी है माया-सृष्टि? और माया द्वारों को खोलती मैं बन गई हूँ गति में विजडित शै कोई?

संशय नहीं, समर्पण! सवाल नहीं, संधान!! प्रिय चेताते हैं सिर्फ सात द्वार! सात जाल! फिर सात जन्म हम-तुम साथ-साथ.

काव्यभाषा के बीच रचनात्मकता और सामान्य कथन का अंतर हुआ करता है यों हर शब्द कुछ न कुछ अर्थ रखता है और इस संदर्भ में उसकी प्रवणता असंदिग्ध है, पर कविता के संदर्भ में शब्द और अर्थ की संपृक्ति की विशेष अपेक्षा, कवि को हुआ करती है क्योंकि एक समय के बाद शब्द अपने पूर्व गहरे अर्थ आदि को खो देते हैं, इसलिए उनकी शक्तिमत्ता घटती है। वाणी का यदि वह मानव की सार्थक वाणी है, अर्थ तो होता ही है, पर वही केवल कवि का अभिप्राय न होकर उससे विशिष्ट भी कवि का अभिप्राय होता है। हम सुरक्षित हैं अपनी ही बनाई अवधारणाओं के बंद खोल में इसी में चलायमान है हमारी दुनिया हमारे लोभ अक्वल दर्जे के खिलाड़ी हम जानते हैं दूसरों को खींच लाने का हुनर। हम सूर्य नहीं ब्लैक होल प्रजाति की संतानें हैं।

लिखती हूँ मन प्रखर आलोचक कथाकार रोहिणी अग्रवाल का पहला काव्य संग्रह है। इस संकलन की कविताओं में उनकी स्त्रीदृष्टि सक्रिय है. ये कविताएँ विवशता, विकलता और असंतोष की जमीन से अंकुरित हैं, मिथकों ने गहराई दी है और सम्बल भी प्रदान किया है.

हम अदृश्य कर दी गई स्त्रियाँ

उम्मीद की धवल चोटियों की रहवासी हैं

जानती हैं ज़मीन फोड़ के अंकुराने का राज
पहचानती हैं अपने पैरों खड़े होने का पुलकता रोमांच
ज़मीन की झोली को नियामतों से भर देने का गर्वीला आह्लाद।

इन कविताओं में एक दूसरी ही रोहिणी अग्रवाल नज़र आती हैं. एक आलोचक अपने प्राप्त विचार और और अनुभव को जिस कुशलता से अपनी आने वाली रचनाओं में संयोजित कर पाता है उससे उसके वैचारिक निष्कर्ष और जीवनानुभूति का पता चलता है. हर नई रचना, रचनाकार के व्यक्तित्व से घुलमिल कर रचना के नेपथ्य में मौजूद रहती है. कवि अपने लिखे को जब बार बार पढ़ता है यानी लिखी जा चुकी रचना के पास कवि या आलोचक लौटता है तो वह उसकी चेतना का हिस्सा बन जाती है. इसलिए मेरा मानना है कि हर नई रचना अपनी अनुभूति और वैचारिकता में नए रूपक गढ़ती है ऐसा रोहिणी जी की कविताओं के साथ भी है.....

रीत गया है समय
या शायद कृश हुआ मेरा गात!
दुसहय होता जा रहा है आंचल का बोझ!
अपनी ही मांस-मज्जा से रच कर
जन रही हूं मृत संतानें
बना कर उनकी अस्थियों को पैना हथियार
खोद रही हूं सुरंग
पाताल में
शकटार की तरह.
समय उकता गया है
या बीत गया है शायद.
सब्र का अमर-कलश
नसीब नहीं होता सबको.
ठीक इसी तरह एक अन्य कविता में भी कहती हैं---

वे यातना को कहते हैं प्रेमआवृत्ति को कल्पनावे ठस्स को आराधते हैं और सिहर सिहरकर अमूर्त के आप्लावनकारी
तरल सौन्दर्य सेवहशत के शोर में पनाह पाते हैं

हम लिखने की प्रक्रिया से गुजरते हुए अपने भाव विचार और अस्तित्व को गढ़ते हैं. अपने ही पूर्व संचित संस्कारों से टकराते हैं. लिखना बहुत ज़िम्मेदारी का काम है. हम क्या लिख रहे हैं और क्यों लिख रहे हैं. कहीं समसामयिकता के नाम पर हम फिर से कोई राजनीतिक सामाजिक पाखंडों की डुगडगी बजाकर केवल वाचिक लड़ाई के रूप में नारे पोस्टर और पेंपलेट की भाषा में रोना-धोना तो नहीं कर रहे. रोहिणी जी कहती हैं.....

लो विसर्जित करती हूँ जय पराजय
दीनता और अहंकार ग्रंथियाँ

और तिरस्कार देती हूँ तुम्हें
अपनी गति तरलता और उत्साह
होंठों में भर कर होंठ सीने में प्राण फूंक देने का चाव।

मेरा अपना भी यही मानना है कि चिंतन करती स्त्रियाँ अब भाव और भाषा में रिपेयरिंग या रेनोवेशन नहीं चाहतीं. यहाँ तक की स्त्रियों का तरतीब देने वाले पितृ सत्तात्मक समाज और रवैये(व्यवहार) को भी रिकंस्ट्रक्ट करना चाहती हैं. चिंतित स्त्रियाँ सबको भाती हैं. किंतु जब से चिंतनकरती हुई मुखर स्त्रियाँ विचार के केंद्र में आईं, तमाम तालिबानी परामर्शों को धत्ता बता देने वाली स्त्रियाँ नागवार ठहरने लगीं. क्योंकि ये प्रतिरोध करती स्त्रियाँ नेपथ्य से चीख पुकार नहीं करतीं. जीवन हो या साहित्य, इनकी लड़ाई केवल पुरुष के वर्चस्व से ही नहीं रुग्ण मानसिकता से भी है. पारंपरिक सोच से भी है. और परंपरा को आभूषण की तरह देह पर सजाती संवारती, अच्छी सुघड़ सुगढ़ सुंदरियों से भी है.....

मधुमक्खियाँ गुलामी नहीं करती
शहद में भरती हैं खुशी और सपने
अपने संगठन की ताकत और आत्मसम्मान अनंत
नन्हीं सी धुन में उगा लेती हैं
कँटीले डंक और खदेड़ देती हैं
घुसपैठियों को दूर तक लहुलुहान करके।

आप देखें मुझे एक और साहित्यकार कवि लेखक पत्रकार आलोचक यहाँ याद आते हैं रघुवीर सहाय। मैं उनकी बात किये बिना नहीं रह पाती। जब वे कहते हैं
वे तमाम संघर्ष जो मैंने नहीं किए अपना हिसाब मांगने चले आते हैं
(रघुवीर सहाय)

जनमानस में वही कवि दीर्घजीवी होता है जिसकी कविता संकट में काम आये और संकट से बाहर निकलने का रास्ता दिखलाये. रघुवीर सहाय ऐसे ही कवि हैं. उनकी कविता में स्वाधीन भारत के 'निम्नमध्यवर्गीय' जन की यातना की प्रमाणिक मार्मिकता मिलती है. उनकी कविता में पुरुष तन्त्र की बेदर्दी और कपट का आकलन है और गहरी सामाजिक अंतर्दृष्टि से उनकी कविताओं का समझने का प्रयास कीजिए तो इस मुकम्मल कवियत्री को पढना जहाँ संतोष देता है वहीं वर्तमान को समझने का विवेक भी.

बदलते दृष्टिकोण, बदलते सौंदर्य मापदंड और बदलती स्त्री के बदलते तेवर, इसी पारंपरिक सोच को सबसे ज्यादा चोट पहुँचा रही है.....

हाँ जनाब स्त्री हूँ मैं
लेखक स्त्री
मेरे चुप करा दिये गये शब्दों में
घुड़कियों के नकाब पलटने की ताकत है
फिर चाहें तो काँप कर जान ले सकते हो मेरी।

ये पंक्तियाँ लिखती हूँ मन कविता से ही है। आप खुद देखें कि जब कवि रोहिणी कहती हैंईश्वर वह परम सत्ता बिल्कुल पैरलल खड़ा है और रचनाकार चुनौती देती हैं जैसे उसके बहाने हर वर्चस्व को हर मठाधीशी को हर सत्ताधारी को ललकार रही हों।देखें

कातरता नहीं आत्मविश्वास की प्रज्वलित लौ हूँ
जानती हूँ भटक कर आयेगा वह ईश्वर
पतंगे सा मेरी रौशनी में जलने एक दिन।

तो यह खुली चुनौती नहीं तो और क्या है साथियों। जब रोहिणी अग्रवाल कहती हैं एक स्त्री के तन और मन के बीच आए इस समाज का, समाज के पहरेदारों का यहां तक की ईश्वर का भी कोई बस नहीं चलता. रचनाकार होने के नाते नहीं, आलोचक मन होने के नाते वह जीवन के रेशे-रेश को पहचान पाता है.....

बेचारे पहरूप

वे केंचुल को समझ मेरा तन

हिफाजत में लगे रहे

और मैं ललदयदठीक उनकी नज़र के सामनेनिकल गई नंगे बदन

प्रिय मुझ-सा हुआ औघड़

जननीजांबाजतलाश लेगा मुझे खुद-ब-खुद

अभी तो मैं व्यस्त हूँ बहुतपुलका रही हूँ हर राह-घाटअपनी निर्द्वंद्व पदचाप सेमहका रही हूँ हर ज़रा हर रोयांमज़बूत इरादों की सुवास से

मेरी टेर की आस मेंकान बन गया है ब्रह्माण्डप्रिय के पास रती भर जगह नहीं कहींमेरे आगोश के सिवा...

सबसे अच्छी बात यह है कि विचार और सरोकार से बने इस बीहड़ में मनोयोगपूर्वक दाखिल होते हुए भी

वे एक पल के लिए भी कविता को अपनी निगाह से ओझल नहीं होने देते। अन्ततः पाठक को जो मिलता

है, वह एक नया आस्वाद है, नई समझ है और नई कविता साथियों आज हम एक रचनाकार के स्त्री

अनुभवों सरोकारों और मन की बात करने एकत्रित हैं पर हमें यह कहते बहुत खेद होता है कि आज भी

विमर्शों के हो हल्ले में भी स्त्री विमर्श और स्त्री कवियित्री को कविता और कविताई के समय को और

आगे बढ़ाते हुए मैं परिचर्चा को आगे बढ़ाती हूँ रचनाकार की ओर मुखातिब हूँ जो बड़े साहस से कहती हैं

....यह विचलित कर देने वाला समय है यह तमाम विचलनो के बीच कमर कस कर खड़ा होने का समय

है.....

संशय नहीं, समर्पण! सवाल नहीं, संधान!!

प्रिय चेताते हैं

सिर्फ सात द्वार!

सात जाल!

फिर सात जन्म हम-तुम

साथ-साथ.

प्रिय की ललकार में हांका है

चेतन हो अर्ध निःसंज्ञ सी मैं

हर द्वार खोलने के बाद

भरने लगी हूँ आंचल में कंकरियां
कि रखूँ याद कितने तीन मिल कर बनते हैं सात.

दरअसल आत्मालोचना कठिन कठोर और पारदर्शी होना चाहिए हम जब भी किसी रचना का आकलन करते हैं तो रचनाकार का सहयात्री होना पड़ता है। उसकी मनोभूमि, उसकी वैचारिकता उसके लिखे अन्य साहित्यिक विधाओं को भी ऑब्सेर्व की तरह देखना पड़ता है। समसामयिकता और तत्कालीन समय व समाज की चुनौतियों से टकराना होता है।

रोहिणी अग्रवाल की कवितायें किसी मंगलाचरण या स्तुति निंदा से परे हैं इनको समझने के लिये इनके रचना संसार की परिक्रमा नहीं करनी बल्कि कई कई चक्रव्यूह को भेदना पड़ता है। रोहिणी अग्रवाल की प्रतिबद्धता आलोचना में दिखाई देती है पर सामाजिक शिकंजा को भेदने के लिये राजनीतिक कुचक्रों को पर्दाफाश करने के लिये इनकी सर्जनात्मक अकुलाहट कविता में फूट पड़ती है।

मैंने रीकंस्ट्रक्शन की बात भी इसीलिए की है। क्योंकि कविता में जो प्रवाह है उसमें भाव व विचार आपस में गुँथकर एकमएक हो जाते हैं।

मेरा अपना भी यही मानना है कि असहमतियाँ हर रचनाकार की सृजनात्मक बेचैनी को निखरने का अवसर देती हैं। इसी तरह असंतोष रचनात्मक ऊर्जा को उर्ध्वमुखी करता है। असंतोष हर रचना को उसका मोटिवेशन देती है रचनात्मकता को आंदोलनधर्मी बनाती है। हम वारिस हैं एक समृद्ध काव्य परंपरा के और वारिस होना दोगुना उत्तरदायित्व है। हमें रचनाओं को परखते हुए उसमें पसरे समाज की क्षुद्रताओं वर्जनाओं और ग्रंथियों से भी जूझना पड़ता है।

रोहिणी अग्रवाल की अन्य कविताओं में यह समसामयिकता चीन्हने की नज़र और बेधड़क हो जाय यही शुभकामनाएँ।